बाइफ़ोकल क्लब

मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी

यह एक हास्य लेख है जो मुश्ताक़ अहमद यूसुफ़ी की दू पुस्तक ख़ाकम बदहन (मेरे मुँह में ख़ाक) में शामिल है। इसमें लेखक की कोहनी के दर्द और उसके इलाज से बात शुरू होती है और मिर्ज़ा के मशवरे पर बाइफ़ोकल बनवाने तक पहुँचती है। निबंध में 'मिर्ज़ा' का किसी क़दर विस्तृत रेखा चित्र है और दो-तीन लघु रेखाचित्र हैं। निबंध में 'प्रोफ़ेसर' का उल्लेख भी कहीं-कहीं हुआ है। मिर्ज़ा और प्रोफ़ेसर जिनके पूरे नाम मिर्ज़ा अब्दुल वदूद बेग और प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस एम.ए. बी.टी.गोल्डमेडलिस्ट हैं, यूसुफ़ी के मित्र या हमज़ाद (छायापुरुष) के रूप में उनकी सभी रचनाओं में होते हैं। ये अपनी विचित्र दलीलों और ऊटपटांग विचारों के लिए जाने जाते हैं। यूसुफ़ी अपनी अकथनीय, उत्तेजक और गुस्ताख़ाना बातें मिर्ज़ा और प्रोफ़ेसर की ज़ुबान से कहलवाते हैं। ये किरदार हमें मुल्ला नसरुद्दीन की याद दिलाते हैं।

बात से बात निकालना, लेखनी के हाथों में ख़ुद को सौंपकर मानो केले के छिलके पर फिसलते जाना अर्थात विषयांतर, हास्यास्पद परिस्थितियों का निर्माण, अतिश्योक्तिपूर्ण वर्णन, किरदारों की सनक और विचित्र तर्कशैली, एक ही वाक्य में असंगत शब्दों का जमावड़ा, शब्द-क्रीड़ा, अनुप्रास अलंकार, हास्यास्पद उपमाएं व रूपक, अप्रत्याशित मोड़, कविता की पंक्तियों का उद्धरण, पैरोडी और मज़ाक़ की फुलझड़ियों व हास्य रस की फुहारों के बीच साहित्यिक संकेत व दार्शनिक टिप्पणियाँ, और प्रखर बुद्धिमत्ता यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की विशेषताएँ हैं। उनके फ़ुटनोट भी बहुत दिलचस्प होते हैं। इस निबंध में यूसुफ़ी साहब की रचना शैली की अनेक विशेषताएँ विद्यमान हैं।-----अनुवादक)

***

चार महीने होने आये थे। शहर का कोई योग्य डॉक्टर बचा होगा जिसने हमारे आर्थिक कष्टों में योग्यतानुसार इज़ाफ़ा न किया हो। लेकिन बाईं कोहनी का दर्द किसी तरह कम होने का नाम न लेता था। इलाज ने जब तीव्रता पकड़ी और रोग ने पेचीदा होकर दरिद्रता का रूप धारण कर लिया तो लखनऊ के एक माहिर हकीम से संपर्क किया जो सिर्फ़ मायूस और मरणासन्न मरीज़ों पर मसीहाई का अमल करते थे। मरीज़ के ठीक होने की तनिक भी संभावना दिख जाए तो बिगड़ जाते और दुत्कार कर निकलवा देते कि जाओ, अभी कुछ दिन और डॉक्टर से इलाज कराओ। अल्लाह ने उनके हाथ में कुछ ऐसा चमत्कार दिया था कि एक दफ़ा उनसे संपर्क करने के बाद कोई मरीज़ चाहे वह मरणासन्न अवस्था में ही क्यों न हो, मर्ज़ से नहीं मर सकता था। दवा से मरता था। मर्ज़ के जरासीम (कीटाणुओं) के लिए तो उनकी दवा अमृत-जल थी। ग़रीबों का इलाज मुफ़्त करते, मगर अमीरों को फ़ीस लिए बिना नहीं मारते थे। हकीम साहब ऊँचा सुनते ही नहीं ऊँचा समझते भी थे। यानी सिर्फ़ मतलब की बात। शायरी भी करते थे। हम इसपर आपत्ति करने वाले कौन? लेकिन विपत्ति यह थी कि हकीमी में शायरी और शायरी में हकीमी के हाथ दिखा जाते थे। मतलब यह कि दोनों में संतुलन के पाबन्द न थे। हकीमों में अपने अलावा उस्ताद इब्राहीम जौक़[1] के क़ायल थे। वह भी सिर्फ़ इस आधार पर कि

[1] *इब्राहीम जौक़: उर्दू के शायर, मुग़ल बादशाह बहादुर शाह 'ज़फ़र' के शायरी के उस्ताद, और ग़ालिब और मोमिन के समकालीन। आब-ए-हयात के लेखक मोहम्मद हुसैन आज़ाद के भी उस्ताद थे। (अनु.)*

'आज़ाद', के कथनानुसार उस्ताद ने संगीत और ज्योतिष सीखने के असफल प्रयास के बाद कुछ दिन हकीमी की। मगर इसमें नाहक़ की हत्या नज़र आने लगी। चुनांचे इन्ही योग्यताओं की दिशा उर्दू शायरी की ओर मोड़ दी। हकीम साहब महोदय अपनी ज़ात (अस्तित्व) और बयाज़ (शायरी की डायरी) पर मुकम्मल भरोसा रखते थे। हाँ कभी अपनी ही आविष्कृत बंग-भस्म के प्रभाव में मन उदारता और विनम्रता की ओर उन्मुख हो जाए तो काव्य-रसिक रोगियों के सामने यह तक स्वीकार कर लेते कि एक लिहाज़ से ग़ालिब उनसे बेहतर था। ख़त अच्छे-ख़ासे लिख लेता था। मगर अब वैसे ख़त पढ़ने वाले कहाँ जिन्हें कोई ऐसे ख़त लिखे।

ख़ानदानी हकीम थे। और ख़ानदान भी ऐसा वैसा! उनके परदादा संदीले के जालीनूस[1] थे। हकीम जालीनूस नेत्रहीन और बहुविवाही न था। ये थे। नाड़ी-ज्ञान में संदेला के चारों तरफ़ उनके मुक़ाबले का कोई और न था। रंगीन-बयान कथावाचक बयान करते हैं कि पैत्रिक हवेली में चार बेगमें (जिनमें हर एक चौथी थी) और दर्जनों हरमें (हरमवालियाँ) और दासियाँ रुली फिरती थीं। तहज्जुद नमाज़ के वक़्त वज़ू कराने की हर एक की बारी मुक़र्रर थी, मगर आधी रात गए आवाज़ देकर सब की नींद ख़राब नहीं करते थे। हौले से नाड़ी छूकर बारी वाली को जगा देते थे, और ऐसा कभी नहीं हुआ कि ग़लत नाड़ी पर हाथ डाला हो।

जालीनूस के इस वंशज ने हमारी नाड़ी, जीभ, जिगर, पेट, नाखुन, पेशाब, पपोटे-----संक्षेप में यह कि सिवाए कोहनी के हर चीज़ का मुआयना फ़र्माया। फ़ीस सुनिश्चित करने से पहले हमारी कार का इंजन भी स्टार्ट करवा के ख़ुद अपनी चश्मीली आँखों से निरीक्षण किया और फ़ीस माफ़ करदी। फिर भी एहतियातन पूछ लिया कि महीने की आख़िरी तारीख़ों में आँखों के सामने तिरमिरे नाचते हैं? हमने सर हिलाकर स्वीकार किया तो मर्ज़ और उर्दू ज़बान के मज़े लूटते हुए फ़रमाया कि "ख़ुदा ख़ैर करे! मुक़ाम-ए-माऊफ़ (संज्ञाहीन अंग) पर जो दर्द है, दर्द में जो चिपक है, चिपक में जो टीस है और टीस में जो कसक रह-रहकर महसूस होती है, वह रियाही है!" बक़ौल मिर्ज़ा, यह निदान न था, हमारे मर्ज़ का अपमान था। हमारे अपने जरासीम के मुँह पर तमाचा था। चुनांचे यूनानी उपचार-पद्धति पर रहा-सहा विश्वास चौबीस घंटों के लिए बिल्कुल उठ गया। इन चौबीस घंटो में हमने कोहनी का हर कोण से एक्सरे कराया। लेकिन इससे मायूसी और बढ़ी। इसलिए कि कोहनी में कोई ख़राबी नहीं निकली!

पूरे दो महीने मर्ज़ में हिन्दू योग-आसन और मेथी के साग का इज़ाफ़ा करने के बाद हमने मिर्ज़ा से जाकर सूरतेहाल बयान की। हाल सुनने के बाद हमारी दाईं चपनी (घुटने की हड्डी) पर दो उंगलियाँ रखकर उन्होंने नाड़ी देखी। हमने आश्चर्य से उनकी तरफ़ देखा तो बोले, "चालीस साल बाद मर्द का दिल नीचे उतर आता है!"

फिर फ़रमाया, "तुम्हारा इलाज यह है कि फ़ौरन बाइफ़ोकल[2] बनवालो।"

हमने कहा "मिर्ज़ा! तुम तो शराब भी नहीं पीते। कोहनी का आँख से क्या ताल्लुक़?"

---

[1] *जालीनूसः प्राचीन यूनान का दार्शनिक और महान चिकित्सक; अपने समय का महान चिकित्सक। (अनु.)*

[2] *बाइफ़ोकलः उस ऐनक को कहते हैं, जिसमें दो शीशे ऊपर नीचे जुड़े हों। ऊपर वाला शीशा दूर की चीज़ें देखने के लिए और निचला सिर्फ़ पढ़ने के लिए। ऐसी ऐनक की ज़रुरत आम तौर पर आधी उम्र इधर, आधी उम्र उधर, यानी चालीस बरस के बाद पड़ती है। अल्लाह के ख़ास बन्दों पर अलबत्ता यह अजीब वक़्त पहले भी आन पड़ता है। (ले.)*

बोले, "चार पाँच महीने से देख रहा हूँ कि तुम्हारी पास की नज़र भी ख़राब हो गई है। किताब क़रीब हो तो तुम पढ़ नहीं सकते। उम्र का तक़ाज़ा ही कहना चाहिए। तुम अख़बार और किताब को आँख से तीन फ़ुट दूर बाएँ हाथ में पकड़ के पढ़ते हो। इसीलिए हाथ की मांसपेशियाँ अकड़ गई हैं। इसलिए कोहनी में जो दर्द है, दर्द में जो -----" वग़ैरह।

माना कि मिर्ज़ा हमारे मित्र और हमदर्द हैं, लेकिन उनके सामने रहस्य खोलते हुए हमें हौल आता है। इसलिए कि वे अपने फ़क़ीरी टोटकों से मूल रोग को तो आमूल उखाड़कर फेंक देते हैं, लेकिन तीन-चार नए रोग गले पड़ जाते हैं, जिनके लिए फिर उन्हीं से संपर्क करना पड़ता है। और वे हर दफ़ा अपने इलाज से हर रोग को चार से गुणा करते चले जाते हैं। लाभ इस उपचार-पद्धति का यह है कि आंशिक स्वास्थ्य-लाभ के बाद जी फिर मूल रोग को रात-दिन ढूँढता है। और रोगी को अपने एकल रोग के स्वर्गीय कीटाणु बुरी तरह याद आते हैं और वह उनके स्नेह व वात्सल्य को याद कर-करके रोता है।

कुछ दिनों की बात है। हमने कहा, "मिर्ज़ा! तीन-चार महीने से हमें तकिए पर सुबह दर्जनों सफ़ेद बाल पड़े मिलते हैं।"

फ़रमाया, "अपने तकिए पर?"

अर्ज़ किया "हाँ!"

शर्लाक होम्ज़ के ख़ास जासूसी अंदाज़ में चंद मिनट गहरे सोच-विचार के बाद फ़रमाया, "शायद तुम्हारे होंगे।"

हमने कहा, "हमें भी यही शुबहा हुआ था।"

बोले, "भाई मेरे! तुमने तमाम उम्र संयम व सावधानी से काम लिया है। अपनी निजी भावनाओं को हमेशा शरीयत की सीमाओं में रखा है। इसीलिए तुम 38 साल की उम्र में गंजे हो गए हो!"

इस निदान के बाद उन्होंने एक रोग़नी ख़िज़ाब का नाम बताया, जिससे बाल काले और मज़बूत हो जाते हैं। चलते समय उन्होंने हमें सख़्ती से ख़बरदार किया कि तेल ब्रश से लगाया जाए वर्ना हथेली पर भी बाल निकल आएँगे, जिसके वे और दवासाज़ कम्पनी हर्गिज़-हर्गिज़ ज़िम्मेदार न होंगे। वापसी में हमने बेहद बेसब्री के आलम में सबसे बड़े साइज़ की शीशी ख़रीदी और दुकानदार से रेज़गारी भी वापस न ली कि इसमें सरासर समय की बर्बादी थी। चालीस दिन के लगातार इस्तेमाल से यह असर हुआ कि सिर पर जितने भी काले बाल थे, वो तो एक-एक करके झड़ गए। अलबत्ता जितने सफ़ेद बाल थे, वो बिल्कुल मज़बूत हो गए। इसलिए आज तक एक सफ़ेद बाल नहीं गिरा, बल्कि जहाँ पहले एक सफ़ेद बाल था, वहाँ अब तीन निकल आए हैं।

बाइफ़ोकल का नाम आते ही हम संभल के बैठ गए। हमने कहा, "मिर्ज़ा! मगर हम तो अभी चालीस साल के नहीं हुए।"

बोले, "मर्ज़ के जरासीम पढ़े-लिखे नहीं होते कि कैलेंडर देखकर हमला करें। ज़रा हाल तो देखो अपना। सेहत ऐसी कि बीमा कम्पनियों के एजेंट नाम से भागते हैं। सूरत ऐसी जैसे, माफ़ करना, रेडियो- फ़ोटो। और रंग भी अब गंदुमी नहीं रहा। ख़ुदा और बेगम के ख़ौफ़ से पीला हो गया है। अगर कभी यारों की बात मान लेते तो जीवन संवर जाता।"

हमने कहा, "हमारा जो हाल है वह अकेले एक आदमी के ग़लत फ़ैसलों से हर्गिज़ नहीं हो सकता। हमें तो इसमें पूरी क़ौम का हाथ नज़र आता है!"

फ़रमाया, "जापान में बाग़बानी की कला के एक विशेष विभाग में बोनसाई को बड़ी क़द्र की निगाह से देखा जाता है। उसके माहिर पुश्त-दर-पुश्त दरख़्तों को इस चाव चोंचले से उगाते और सींचते हैं और उनकी उठान को इस तरह नियंत्रण में रखते हैं कि तीन-तीन सौ साल पुराने दरख़्त में फल-फूल भी आते हैं, पतझड़ भी होता है, मगर एक बालिश्त से ऊँचा नहीं होने पाता। तुमने अपनी शख़्सियत को इसी तरह पाला पोसा है।"

हमने आँखों में आँसू भरके कहा, "मिर्ज़ा! हम ऐसे न होते तो तुम किसे नसीहत करते?"

कुछ नर्म पड़े। फ़रमाया, "*नसीहत से ग़रज़ इस्लाह किस मस्ख़रे को है*[1]। मगर तुमने दिमाग़ से कभी काम नहीं लिया। ख़ाली चाल-चलन के बिरते पर सारी ज़िन्दगी गुज़ार दी।"

हमने कहा, "मिर्ज़ा! तुम तो यह न कहो। हम तमाम उम्र अपनी कामनाओं से गोरिल्ला युद्ध करते रहे हैं। तुम हमारे दिल के खोट से वाक़िफ़ हो। यह कामाग्नि :

पूरी बुझी नहीं, यह बुझाई हुई सी है

जहाँ तक कर्मों का ताल्लुक़ है, ख़ुदा गवाह है कि हमारा कोई काम, कोई अमल, शरीयत के ख़िलाफ़ नहीं। लेकिन अगर जन्नत-जहन्नुम का फ़ैसला सिर्फ़ नीयत के आधार पर हुआ तो हमारे जहन्नुम में जाने में ख़ुद हमें कोई संदेह नहीं।"

मुस्कुरा दिए। फ़रमाया, "जिन महिलाओं ने अपनी सुन्दरता से तुम्हारे ध्यान- ज्ञान में विघ्न डाला, उनकी संख्या कुछ नहीं तो, कराची की आधी आबादी के बराबर तो होगी?"

हमने मिर्ज़ा को याद दिलाया कि लड़कपन ही से हम शांतिपूर्ण जीवन बिताने के सख़्त ख़िलाफ़ रहे हैं। मार-धाड़ से भरपूर जेम्स बांड जैसा जीवन व्यतीत करने के लिए कैसे-कैसे जतन किए। उन्हें तो क्या याद होगा, क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस उन दिनों हमें Bull Fighting की ट्रेनिंग दिया करते थे। और एक दाढ़ीदार बोक (खस्सी) बकरे को सुर्ख़ तुर्की टोपी पहनाकर, हमें उसके ख़िलाफ़ उकसाया करते थे। मिडिल में 33 नम्बर से गणित में फ़ेल होने के बाद हमने आजीविका के साधन के बारे में यह फ़ैसला किया कि वालिदा इजाज़त दे दें तो Pirate (समुद्री डाकू) बन जाएँ। लेकिन जब बालिग़ उम्र को पहुँचे और अंग्रेज़ शासकों से नफ़रत के साथ-साथ अच्छे-बुरे का विवेक भी पैदा हुआ तो जीवन के लक्ष्य में, मिर्ज़ा ही के मशवरे से, इतना संशोधन करना पड़ा कि सिर्फ़ अंग्रेज़ों के जहाज़ों को लूटेंगे। मगर उनकी मेमों के साथ बदसलूकी नहीं करेंगे। निकाह करेंगे।

फ़रमाया "ये सब निशानियाँ मिडिल एज" की हैं, जो तुम्हारे केस में ज़रा सवेरे ही आ गई है। एक रूसी अनार्किस्ट ने एक दफ़ा क्या अच्छा सुझाव पेश किया था कि 25 साल से ज़्यादा उम्र वालों को फाँसी दे दी जाए। लेकिन फाँसी से ज़्यादा इबरतनाक सज़ा तुम जैसों के लिए यह होगी कि तुम्हें ज़िन्दा रहने दिया जाए। "मिडिल-एज"का बुढ़ापे के अलावा कोई इलाज नहीं। हाँ मुफ़लिसी और सूफ़ीवाद से थोड़ा बहुत आराम आ

---

[1] *नसीहत : उपदेश ; ग़रज़ : प्रयोजन ; इस्लाह : सुधार ; मसख़रा: जोकर। मिर्ज़ा ग़ालिब के निम्नलिखित शेर की पैरोडी:*
मय से ग़रज़ निशात है किस रूस्याह को // इक गूना बेख़ुदी मुझे दिन-रात चाहिए
मय: शराब ; निशात: आनंद ; इक गूना : एक तरह का , थोड़ा-थोड़ा; बेख़ुदी: नशा, मदहोशी (अनु.)

जाता है। हमारे यहाँ मायूसी की उम्र के, ले-दे के, दो ही मशग़ले हैं। अय्याशी---- और अगर उसकी क्षमता न हो तो------ सूफ़ीवाद! और क़व्वाली इन दोनों उत्पातों का सार है!

और तुम्हारा इलाज है, एक अदद बाइफ़ोकल और जुमेरात-की-जुमेरात क़व्वाली! दो दिन से साईं गुलम्बर शाह का ऊर्स हो रहा है। आज रात भी हमारे पीर साहब क़िबला ने क़व्वाली की महफ़िल का आयोजन फ़रमाया है! मटके वाले क़व्वालों की चौकी के अलावा हैदराबाद की एक तवायफ़ भी स्नेह व श्रद्धा की सौग़ात पेश करेगी।"

हमने पूछा "ज़िन्दा तवायफ़?"

बोले, "हाँ! सचमुच की! मरे क्यों जा रहे हो? शीन-क़ाफ़ के अलावा नख-शिख से भी दुरुस्त। हज़रत की मुरीद होने के बाद उसने शादी-ब्याह के मुजरों से तौबा कर ली है। अब सिर्फ़ मज़ारों पर गाती है या रेडियो पाकिस्तान से! और साहब! ऐसा गाती है, ऐसा गाती है कि घंटों देखते रहो! हँसते क्या हो। एक नुक्ता आज बताऐ देते हैं----- गाने वाली की सूरत अच्छी हो, तो अनर्गल शेर का मतलब भी समझ में आ जाता है।"

इशा (रात की नमाज़) के बाद हमने क़व्वाली की तैयारियाँ शुरू कीं। ईद का कढ़ा हुआ कुर्ता पहना। जुमा की नमाज़ वाले ख़ास जूते निकाले। (मस्जिद में हम कभी आम जूते पहनकर नहीं जाते। इसलिए कि जूते अगर साबुत हों तो सजदे में भी दिल उन्हीं में पड़ा रहता है।) मिर्ज़ा हमें लेने आए तो नथुने फड़काते हुए पूछा,

"आज तुममें से जनाज़े जैसी बू क्यों आ रही है?"

हमने घबराकर अपनी नाड़ी देखी। दिल तो अभी धड़क रहा था। कुछ देर बाद बात समझ में आई तो हमने स्वीकार किया कि "गर्म शेरवानी दो साल बाद निकाली है। काफ़ूरी गोलियों की बू बुरी तरह बस गई थी। उसे दबाने के लिए थोड़ा सा इत्रे-हिना लगाया है।"

कहने लगे, "जहाँ महफ़िल के आदाब (शिष्टाचार) का इतना लिहाज़ रखा है, वहाँ इतना और करो कि एक रूपये के नोट अंदर की जेब में डाल लो।"

हमने पूछा "क्यों?"

फ़रमाया, "जो शेर तुम्हारी या मेरी समझ में आ जाए, उसपर एक नोट अदब के साथ भेंट करना।"

चुनांचे तमाम रात हमारी यह दोहरी ड्यूटी रही कि श्रवण-इन्द्रिय का जाल बिछाए बैठे रहें और इस निशाकालीन मनोरंजन के दौरान मिर्ज़ा के चेहरे पर भी स्थाई रूप से दृष्टि जमाए रहें कि ज्यों ही उनके नथुनों[1] से प्रकट हो कि शेर समझ में आ गया है, अपनी हथेली पे नोट रखकर पीरो-मुर्शिद को भेंट प्रस्तुत करें और वे उसे छूकर क़व्वालों को प्रदान कर दें।

अपने जीवन से हताश-निराश लोगों का इससे अधिक प्रतिनिधि जमावड़ा हमने अपने चालीस साला तजुर्बे में नहीं देखा। शहर के चोटी के अधेड़ यहाँ मौजूद थे। थोड़ी देर बाद पीर साहब पधारे। भारी बदन। नींद में भरी हुई आँखें। छाज सी दाढ़ी। तरशी मूंछें। टख़्नों तक गेरुवा कुर्ता। सिर पर स्याह मख़मल की चौगोशिया टोपी, जिसके नीचे रुपहली बालों की कगर। हाथ में सब्ज़ जरीब (लाठी)। साज़ मिलाए गए। यानी हारमोनियम को तालियों से और तालियों को मटके से मिलाया गया। और जब शायर के कलाम को इन तीनों

[1] *उनके स्वभाव से परिचित जानते हैं कि अनर्गल शेर समझ में आ जाए तो मिर्ज़ा के नथुने ख़रगोश की तरह फड़कने लगते हैं। (ले.)*

के अधीन कर लिया गया तो क़व्वाली का रंग जमा। हमारा विचार है कि इस स्तर के गायकों को तो मुग़लों के ज़माने में पैदा होना चाहिए था, ताकि कोई बादशाह उन्हें हाथी के पाँव तले रौंदवा डालता। उन्होंने मौलाना 'जामी' के कलाम में मीराबाई के दोहों को इस तरह घोल दिया कि फ़ारसी भाषा सरासर मारवाड़ी बोली ही का बिगड़ा हुआ रूप मालूम होने लगी और हम जैसे अज्ञानी को तो असल पर नक़ल का धोका होने लगा।

क़व्वाली शुरू हुई है तो हम पाँचवीं पंक्ति में दो-ज़ानू (घुटने मोड़े) बैठे थे। नहीं, महज़ दो-ज़ानू नहीं, इस तरह बैठे थे जैसे अत्तहियात[i] पढ़ते वक़्त बैठते हैं। लेकिन जैसे ही महफ़िल रंग पर आई, हम हाल (भावातिरेक) खेलने वालों के धक्के खाते-खाते इतने आगे निकल गए कि रात भर टांगें गुलैल की तरह फैलाए एक हारमोनियम को गोद में लिए बैठे रहे। एक नवागंतुक ने हमें एक रूपया भी दिया। हमारा हश्र यानी चाय-पानी भी क़व्वालों के साथ हुआ। धक्कों के रेले में हम क़व्वालों की टोली को चीरते हुए दूसरे दरवाज़े से कभी के बाहर निकल पड़े होते, मगर बड़ी ख़ैरियत हुई कि एक कलारेंट ने हमें बड़ी मज़बूती से रोके रखा। यह कलारेंट कोई सवा गज़ लम्बा होगा। उसका अघातक सिरा तो साज़िंदे के मुँह में था, लेकिन फन हमारे कान में ऐसा फ़िट हो गया था कि ज़ोर के धक्कों के बावजूद हम एक इंच आगे नहीं बढ़ सकते थे।

रात के अंतिम पहर में हज़रत ने ख़ास तौर से फ़रमाइश करके तवायफ़ से अपनी एक छंदमुक्त गज़ल गवाई, जिसे उस कोकिला ने सुर ताल से भी मुक्त करके तिगुना मादक कर दिया। हज़रत अपना कलाम सुनकर ऐसे सजल नयन हुए कि छपा हुआ रुमाल (जिसके हाशिए पर कुछ शेर खाने की ख़ूबियों के बारे में लिखे थे) तर हो गया। मक़ता[ii] जी तोड़कर गाया और ज़बान पे जब शायर का नाम आया तो नाचते हुए जाकर सिर सामने कर दिया। हज़रत ने सरपरस्ती के तौर पर असली छुहारे की गुठलियों की हज़ार-मनकों वाली माला मुक्तहस्त से उसके गले में डाल दी और अपना चरणरज और अपने दिव्य-कक्ष की झाड़ू भी प्रदान की। चार बजे जब सबकी जेबें ख़ाली हो गईं तो अधिकतर लोगों को हाल (भावातिरेक) आ गया और ऐसी धमाल मची कि तकिए (दरगाह) की गुंबद की सारी चमगादड़ें उड़ गईं। किसी के पाँव की मस्त ठोकर से हज़रत के ख़लीफ़ा की घड़ी का शीशा चूर-चूर हो गया और अब वे भी अपनी ख़िलाफ़त की पगड़ी, जुब्बा, बाइफ़ोकल और चाँदी के बटन उतारकर मैदान में कूद पड़े। सिर्फ़ अंगूठी और मोज़े नहीं उतारे। सो वो भी मस्ती की हालत में किसी ने उतार लिये। नोटों की बौछार बंद हुई और अब हर शेर पर जज़ाक-अल्लाह[iii]! जज़ाक-अल्लाह! का तुमुल कोलाहल बुलंद होने लगा। उस भाग भरी ने जो देखा कि बंदों ने अपना हाथ खींचकर अब मामला अल्लाह के सुपुर्द कर दिया है तो झट आख़िरी गिलोरी कल्ले में दबाके कहरवे पर महफ़िल ख़त्म कर दी।

पाँच बजे सुबह हम कान सहलाते कर्कश क़व्वाली की महफ़िल से लौटे। कुछ अनर्गल कलाम का, कुछ मादक रात का ख़ुमार, हम ऐसे ग़ाफ़िल सोए कि सुबह दस बजे तक सन्नाते रहे और बेगम हमारे पलंग के गिर्द मंडलाते हुए बच्चों को समझाती रहीं, "कमबख़्तो! आहिस्ता-आहिस्ता शोर मचाओ। अब्बा सो रहे हैं। रातभर

---

[i] अत्तहियातः नमाज़ की एक दुआ। इसे दोनों घुटने मोड़कर और नितम्बों को एड़ियों पर रखकर पढ़ते हैं। (अनु.)

[ii] मक़ताः ग़ज़ल का आम तौर पर आख़िरी शेर जिसमें शायर अपना तख़ल्लुस (उपनाम) इस्तेमाल करता है। (अनु.)

[iii] जज़ाक-अल्लाहः अल्लाह तुम को इसका इनाम या अच्छा बदला दे। अच्छी शायरी की तारीफ़ या अच्छे व्यवहार पर शुक्रिया के तौर पर भी बोला जाता है। (अनु.)

उस मनहूस मिर्ज़ा की मुसाहबी की है। आज दफ़्तर नहीं जाएँगे। अरी ओ नबीला की बच्ची! घड़ी-घड़ी दरवाज़ा मत खोल। मक्खियों के साथ इनके मुलाक़ाती भी घुस आएँगे।"

शाम को मिर्ज़ा चलते-फिरते इधर आ निकले और (वह आत्मिक शान्ति और आभा देखकर जो हमारे मुँह पर दफ़्तरी दायित्व न निभाने से आ जाती है) कहने लगे:

"देखा! हम न कहते थे, एक ही संगत में रंग निखर आया। रात हज़रत ने तवज्जो फ़रमाई? दिल पर कोई असर हुआ? सपने में दर्शन हुआ?"

हमने कहा, "दर्शन-वर्शन तो हम जानते नहीं। अलबत्ता सुबह एक अजीबो-ग़रीब ख़्वाब देखा कि बग़्दाद में सफ़ेद संगमरमर की एक आलीशान महलसरा है, जिसके मुख्य-द्वार पर राष्ट्रीय ध्वज की जगह एक "बिकनी" लहरा रही है। छत वीनस-डी-मैलो की मूर्तियों पर ठहरी हुई है। हम्माम की दीवारें पारदर्शी बिल्लोर की हैं। केन्द्रीय क़ालीन के गिर्दा-गिर्द असुरक्षित फ़ासले से मख़मली गावतकियों की जगह अल्प-वस्त्रा कनीज़ें आड़ी लेटी हैं। शेख़ हज़रात उनकी मांसल टेक लगाए एक दूसरे के गावतकिए को आँख मार रहे हैं। सामने एक पारंगत नृत्यांगना नक़्क़ारों पर, अपनी आँखें इंजीर के पत्ते से ढाँपे नग्न नृत्य कर रही है और पाँव से उन्ही नक़्क़ारों पर ताल देती जाती है। दिल भी उसी ताल के मुताबिक़ धड़क रहे हैं। सारांश यह कि एक अजीब आलम है। अमीरों के आज़ू-बाज़ू कनीज़ों और सेविकाओं के परे-के-परे प्रतीक्षा में हैं कि भृकुटी के अर्ध-रात्रिकालिक कामुक संकेत पर भोग-रस की उन पर वर्षा कर दें। ये समय-समय पर शराब, कबाब और अपने आप को पेश करती हैं। उसी क़ालीन के स्याह हाशिए पर चालीस गुलाम हाथ बाँधे, नज़रें झुकाए खड़े हैं और मैं उनमें से एक हूँ!

इतने में क्या देखता हूँ कि एक बुज़ुर्ग, भारी बदन, नींद में भरी हुई आँखें। दाढ़ी इतनी लंबी कि टाई लगाएँ तो नज़र न आए। सब्ज़ जरीब (हरी लाठी) टेकते आ रहे हैं। हमने अपनी हथेली पर सौ रूपये का नोट रख कर पेश किया। हज़रत ने नोट उठाकर वह जगह चूमी, जहाँ नोट रखा था और खुशख़बरी दी कि बारह बरस बाद तेरे भी दिन फिर जाएँगे। तू बावन साल की उम्र में एक भरे पुरे हरम का मालिक------"

मिर्ज़ा का चेहरा लाल अंगारा हो गया। बात काटते हुए फ़रमाया, "तुम जिस्म शायर का, मगर भावनाएँ घोड़े की रखते हो!"

फिर उन्होंने लानत-मलामत के वह दफ़्तर खोले कि इस नाचीज़ ने खड़े-खड़े तमाम मकान वासियों को अल्प-वस्त्र सहित हरम से निकाल बाहर किया।

तीन नवागंतुक गीशाएँ थीं कि जिनके वीज़ा की अभी आधी मुद्दत भी ख़त्म नहीं हुई थी। कैसे कहूँ कि उन्हें भी इस हड़बोंग में पाथेय दिए बिना निकाल दिया!

और उनके साथ-साथ सूफ़ीवाद का विचार भी हमेशा-हमेश के लिए दिल से निकाल दिया।

काले दिल पर क़व्वालों का क़ब्ज़ा आपने देख लिया। अब बाइफ़ोकल का हाल सुनिऐ। ऐनक हमारे लिए नई चीज़ नहीं। इसलिए के पाँचवीं कक्षा में क़दम रखने से पहले हमारी ऐनक का नंबर 7- हो गया था। जो पाठक नंगी आँख (अंग्रेज़ी प्रयोग है, मगर खूब है) से देखने के आदी हैं उन्हें शायद अंदाज़ा न हो कि 7- नंबर ऐनक क्या मतलब रखती है। उनकी ख़िदमत में अर्ज़ है कि अंधा भैंसा खेलते समय बच्चे हमारी आँखों पर पट्टी नहीं बाँधते थे। हमारी आस्था थी कि अल्लाह-ताला ने नाक सिर्फ़ इसलिए बनाई है कि ऐनक टिक सके और

जो बेचारे ऐनक से महरूम हैं, उनकी नाक महज़ ज़ुकाम के लिए है----- माननीय दादा-जी महोदय का मानना था कि अरबी न पढ़ने के कारण हम आधे अंधे हो गए हैं। वर्ना इस प्रतिष्ठित परिवार[1] के इतिहास में डेढ़ सौ साल से किसी बुज़ुर्ग ने ऐनक नहीं लगाई। अल्लाह-अल्लाह! कैसा सस्ता समाँ और कैसे सादा दिल बुज़ुर्ग थे कि गर्ल्ज़ प्राइमरी स्कूल की बस का रास्ता काटने को व्यभिचार समझते थे! आज हमें इसका मलाल नहीं कि वे ऐसा क्यों समझते थे, बल्कि इसका है कि हम ख़ुद यही कुछ समझकर जाया करते थे! और जब हम चोरी की चवन्नी से बाइस्कोप देखकर रात के दस बजे पंजों के बल घर में प्रवेश करते तो डेवढ़ी में हमें परिवार के सारे बुज़ुर्ग न सिर्फ़ ख़ुद गार्ड-ऑफ़-ऑनर देते, बल्कि अपनी कुमुक पर बाहरी बूढ़ों को भी बुला लेते थे कि मुक़ाबला हमारी बदचलनी व गुमराही से था।

ऐनक पर ताने सुनते-सुनते हमारा कमसिन कलेजा छलनी हो गया था। लिहाज़ा दो साल बाद जब दादा जान का मोतियाबिंद का ऑपरेशन हुआ तो हमने इस ख़ुशी में बच्चों को लेमन-ड्रॉप बाँटी। दरअसल हम सब बच्चे उन्हें "प्राब्लम" बुज़ुर्ग समझा करते थे। वहम के मरीज़ थे। ऑपरेशन से पहले नक़ली बत्तीसी के एक अगले दाँत में दर्द महसूस कर रहे थे, जिसका इलाज एक हेम्योपैथिक डॉक्टर से कराने के बाद, उन्होंने वह दाँत ही उखड़वा दिया था और अब उसकी खुड्डी में हुक़्क़े की चाँदी की मुँहनाल फ़िट करके घंटो हमारे अन्धकारमय भविष्य के बारे में सोचा करते थे। हाँ तो हम कह यह रहे थे कि ऑपरेशन के बाद वे आध इंच मोटे शीशे की ऐनक लगाने लगे थे, जिससे उनकी गुस्सैली आँखें हम बच्चों को तिगुनी बड़ी दिखाई देती थीं। अल्लाह जाने ख़ुद उन्हें भी उससे कुछ दिखाई देता था या नहीं। इसका कुछ अंदाज़ा इससे होता था कि उसी ज़माने में अब्बा जान चौकीदारी के लिए एक सुनहरे रंग का बूढ़ा कुत्ता ले आए थे, जिसे कम नज़र आता था, बल्कि यूँ कहना चाहिए कि दादा जान को कुत्ता और कुत्ते को वे नज़र नहीं आते थे। हमारी यह ड्यूटी लगी हुई थी कि उभय पक्ष को एक दूसरे के हिंसा-क्षेत्र से दूर रखें। ख़ास तौर पर मग़रिब (सूर्यास्त की नमाज़) के वक़्त। कभी-कभार ऐसा भी होता कि हमारी ग़फ़लत से वे वज़ू करके हिरन की खाल के बजाए कुत्ते पर बैठ जाते और उत्तरोल्लिखित, प्रथमोल्लिखित पर भौंकने लगता तो वे प्रस्तुत लेखक पर चीख़ते कि अंधा हो गया है क्या? ऐनक लगाके भी इतना बड़ा कुत्ता नज़र नहीं आता!

दावा तो मिर्ज़ा और ऐनक-साज़ ने यही किया था कि ऊपरी खिड़की से दूर की और निचली खिड़की से पास की चीज़ें साफ़ नज़र आएँगी। प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस ने तो यहाँ तक उम्मीद बंधाई थी कि दूर के शीशे से अपनी बीवी और पास के शीशे से दूसरे की बीवी का चेहरा निहायत भला मालूम होगा।

ग़ाफ़िल ने इधर देखा, आक़िल ने उधर देखा

लेकिन क़दम-क़दम पर ठोकरें खाने के बाद खुला कि बाइफ़ोकल से न दूर का जलवा नज़र आता है न पास का। अलबत्ता सब्र आ जाता है। यहाँ तक तो बहुत ग़नीमत है कि हम बंदूक़ की लबलबी निचले शीशे और मक्खी ऊपर वाले शीशे से देखें और अगर तीतर बंदूक़ की नाल में चोंच डाले कारतूस का मुआयना कर रहा है तो फिर बच के नहीं जा सकता। ख़ैर, शिकार को जाने दीजिए कि यूँ भी हम जीव हत्या के ख़िलाफ़ हो गए

[1] *प्रतिष्ठित परिवारः जिसकी वंशावली डेढ़-दो लाख कड़ियों से हज़रत आदम अलैहिस्सलाम से जा मिलती है। (ले.)*

हैं। (ज़ैन बुद्धिज़्म और अहिंसा की शिक्षा से हृदय ऐसा करुणामय हो गया है कि अब हार्दिक इच्छा यही है कि सुन्दर पंछी को जान से मारे बिना उसका मांस खा सकें।) लेकिन सीढ़ी से उतरते समय

आँख पड़ती है कहीं, पाँव कहीं पड़ता है

और जहाँ पाँव पड़ता है, वहाँ सीढ़ी नहीं होती। मिर्ज़ा से इस ख़ास सूरतेहाल का ज़िक्र किया तो कहने लगे,

"ऐनक हर वक़्त लगाए रखो। लेकिन जहाँ नज़र का काम हो, वहाँ एक सुन्दर सी छड़ी हाथ में रखा करो। लाहौर में आम तौर पर मिलती हैं।"

हमने कहा, "लाहौर में जो सुन्दर छड़ियाँ आम तौर पर मिलती हैं, वो हमारे कंधे तक आती हैं। हम उन्हें हाथ में नहीं रख सकते। बग़ल में बैसाखी की तरह दबाए फिर सकते हैं। मगर लाहौर की गुलाबी मुखड़े वालियाँ अपने दिल में क्या कहेंगी?"

बोले, "तो फिर एक कुत्ता साथ रखा करो। तुम्हारी तरह वफ़ादार न हो तो हर्ज नहीं, लेकिन नेत्रहीन न हो।"

हम तो अब इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि पिछले ज़माने के राजे-महाराजे, ख़ास तौर पर कुछ मुग़ल शासक, अपने सरकश सूबेदारों, विद्रोही शहज़ादों और सिंहासन के दावेदार भाइयों की जल्लाद से आँखें निकलवा कर ख़ुद को ईश्वरी प्रसाद द्वारा लिखित "भारत का इतिहास" में ख़ामख़ाह बदनाम कर गए। इन सबको (ईश्वरी प्रसाद सहित) बाइफ़ोकल लगवा देते तो औरों को कान हो जाते[I] और यह दुखियारे भीख माँगने के लायक़ भी न रहते। हमारा विचार है कि न देखने का इससे अधिक साइंटिफ़िक आला (उपकरण) आज तक ईजाद नहीं हुआ। तनिक खुलकर बात करने की अनुमति हो तो हम यहाँ तक कह गुज़रेंगें कि बाइफ़ोकल दृष्टि की पवित्रता का ज़मानतदार है। मसलन ऐनक के ऊपरी शीशे से सामने बैठी हुई कंचन कामिनी के पतिदेव की जबरजंग मूँछ का एक-एक बाल गिना जा सकता है, लेकिन जब रेशमी साड़ी हमारी ही दिशा में सरक कर पिंडली से ऊपर यूँ चढ़ जाए कि

न देखे अब तो न देखे, कभी तो देखेगा

तो साहब! इस बेहयाई का अध्ययन एकाग्रचित्त होकर न ऊपर के शीशे से किया जा सकता है, न नीचे के शीशे से। और यूँ गृहस्थी पुरुष एक गुनाह से बच जाता है

वह इक गुनह जो बज़ाहिर गुनाह से कम है[II]

इतना ज़रूर है कि इसे लगाने के बाद तीन और ऐनकों का इंतज़ाम ज़रूरी हो जाता है। एक दूर की। दूसरी पास की और तीसरी बिना शीशों वाली-----देखने के लिए। विलासिता की ये सामग्रियाँ इसलिए भी ज़रूरी हैं कि यूँ दिखाने को अधेड़ आदमी के मुँह पर आँख, आँख में पुतली, पुतली में तिल और तिल में शायद ज्योति भी होती है, लेकिन तीन से पाँच फ़ीट दूर की चीज़ किसी तौर पर बाइफ़ोकल के फ़ोकस में नहीं आती। एक दुर्घटना हो तो बयान करें। परसों रात दावते-वलीमा में जिस चीज़ को डोंगा समझकर झपा-झप उसमें से पुलाव की सारी बोटियाँ गिरा लीं, वह एक मौलवी साहब की प्लेट निकली जो ख़ुद उस समय ज़र्दे की थाली

[I] *कान होना: सावधान होना , ख़ासकर किसी बुरे अनुभव के बाद ; सबक़ मिलना। (अनु.)*

[II] *बहुत दिनों में तग़ाफ़ुल ने तेरे पैदा की // वह इक निगह कि बज़ाहिर निगाह से कम है (ग़ालिब)*

पर बुरी नज़र डाल रहे थे। या कल रात घुप अंधेरे सिनेमा हाल में इंटरवल (जिसे मिर्ज़ा ताक-झाँक का अंतराल कहते हैं) के बाद कंधे पर हाथ रखे सीट तक पहुँचने की कोशिश की, वह सीट हमारी नहीं निकली और न वह कन्धा हमारी बेगम का!

इंसान की कोई महरूमी हिकमत से ख़ाली नहीं। जैसे-जैसे कुछ दर्द हमारी सहार व सहनशीलता के अनुसार हमें प्रदान किया जाता है, हृदय अंतर्बोध से कोमल होते चले जाते हैं। इंसान जब आँख-कान का मोहताज न रहे और उसे अटकल से जिंदगी गुज़ारने का हुनर आ जाए तो सही अर्थों में संयम और अनुसाशन का आग़ाज़ होता है। मिर्ज़ा के अलावा भला यह और किसका कथन हो सकता है कि काया का सुख चाहो तो जवानी में बहरे बन जाओ और बुढ़ापे में अंधे। सैर-व-तमाशा की हवस तो ख़ैर पुरानी बात हुई, हम तो अब आँखों की रौशनी का भी हुड़का नहीं करते। हो हो, न हो न हो। अब तो हर चीज़ को अपनी जगह रखने की आदत पड़ गई है। अलमारी में दाईं तरफ़ पतलून, बाईं तरफ़ पुरानी क़मीज़ें जिन्हें अब हम सिर्फ़ बंद गले के स्वेटर के नीचे पहन सकते हैं। दूसरे ख़ाने में सलीक़े से तह किया हुआ बंद गले का स्वेटर जो अब केवल बंद गले के कोट के नीचे पहना जा सकता है। आँख बंद करके जो चाहो, निकाल लो। ग़रज़ कि हर चीज़ का अपना मुक़ाम बन जाता है। जा-नमाज़ की जगह जा-नमाज़। भावुक उपन्यास की जगह आँसुओं से भीगी हुई चेक बुक। प्रेमिका की जगह विवाहिता----- तकिया की जगह गाव-तकिया!

थोड़ा क्रम बिगड़ा और आबरूए-शेवा-ए-अहले-नज़र[1] गई। लेकिन जिस घर में अल्लाह की मेहरबानी से बच्चे हों वहाँ यह रख-रखाव मुमकिन नहीं और रख-रखाव तो हमने तकल्लुफ़न कह दिया वर्ना सच पूछिए तो कुछ भी मुमकिन नहीं।

दिल साहब-ए-औलाद से इंसाफ़ तलब है

एक दिन हमने झुंझलाकर बेगम से कहा, "यह क्या अंधेर है। तुम्हारे लाडले हर चीज़ जगह से बे-जगह कर देते हैं। कल से चाक़ू ग़ायब था। अभी गुत्थी खुली कि इससे गुड़िया का अपेंडिक्स निकाला गया था!"

तुनक कर बोलीं, "और क्या कुल्हाड़ी से गुड़िया का पेट चीरा जाता?"

हमने झट उनकी राय से इत्तेफ़ाक़ करते हुए कहा, "हाँ! यह कैसे मुमकिन है। इसलिए कि कुल्हाड़ी के डण्डे से तो इस घर में कपड़े धोए जाते हैं! तुम ही बताओ, सुबह नए निबंध की नाव बल्कि पूरा बेड़ा टब में पृष्ठ-वार नहीं चल रहा था? तुम्हारे घर में हर चीज़ के इस्तेमाल का नया तरीक़ा, एक नया फ़ायदा खोज लिया जाता है-----सिवाए मेरे! तुम्हारे सामने की बात है। कह दो, यह भी झूठ है। परसों दोपहर अख़बार पढ़ते-पढ़ते ज़रा देर को आँख लग गई। खुली तो ऐनक ग़ायब। तुमसे पूछा तो उल्टी डाँट पड़ी 'अभी से काहे को उठ बैठे। कुछ देर और सो लो। अभी तो गुड्डू मियाँ तुम्हारा बाइफ़ोकल लगाए अंधा भैंसा खेल रहे हैं! बिल्कुल अपने बाप पर पड़े हैं।' बच्चे सभी के होते हैं मगर घर का घरवाया कहीं नहीं होता। सुबह देखो तो सिगरेट लाइटर की लौ पर हंड-कुलिया पकाई जा रही है। शाम को खुद बेगम साहब गीले बाल बिखेरे, पंद्रह गज़ घेर की शलवार में हमारी पेंसिल से सट-सट कमरबंद डाल रही हैं।"

---

[1] *हर बुलहवस ने हुस्न-परस्ती शेआर की // अब आबरूए-शेवए-अहले-नज़र गई (मिर्ज़ा ग़ालिब)*

हर कामुक या भोगी सौन्दर्य का उपासक बन गया है, अब तो दिल वालों या सच्चे आशिक़ों की आबरू गई। (अनु.)

सुर्ख़ चूड़ियाँ छनकाकर सुहाग राग छेड़ते हुए बोलीं, "हाय अल्लाह! दफ़्तर का गुस्सा घर वालों पर क्यों उतार रहे हो? किसी ने तुम्हारी पेंसिल से कमरबंद डाला हो तो उसके हाथ टूटें। मैंने तो तुम्हारे "पारकर" से डाला था! चाहे जिसकी क़सम ले लो। रहे बच्चे तो उनके नसीब में तुम्हारी इस्तेमाली चीज़ें ही लिखी हैं। फिर भी आज तक ऐसा नहीं हुआ कि उन्होंने चीज़ वापस वहीं न रखी हो।"

हमने कहा, "यक़ीन न हो तो खुद जाकर अपनी बड़ी-बड़ी आँखों से देख लो। सेफ़्टी रेज़र का ब्लेड ग़ायब है।"

बोलीं, "कम-से-कम खुदा से तो डरो। अभी-अभी मेरे सामने नबीला ने पेंसिल छीलकर वापस रेज़र में लगाया है। वह बेचारी खुद एहतियात करती है!"

मिर्ज़ा ने मौज़ा चाकसू (खुर्द-व-कलाँ) के अर्ध-वृद्धों की सभा की नींव डाली तो हफ़्तों इस दुविधा में रहे कि नाम क्या रखा जाए। प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस एम.ए.(गोल्ड मेडिलिस्ट) ने "चाकसू की दुखी-चित्त जन मंडली, रजिस्टर्ड" तजवीज़ किया, जो इस आधार पर रद्द कर दिया गया कि मेम्बरी का दारोमदार सिर्फ़ निराशावाद पर रखा गया तो चाकसू के सारे शायर अपने अप्रकाशित कविता-संग्रह समेत घुस आएँगे। ख़ासी बहस-व-विचार के बाद तय पाया कि इस अधेड़जन मंडली का नाम "बाइफ़ोकल क्लब" बेहद मुनासिब रहेगा कि बाइफ़ोकल एक लिहाज़ से तमाम दुनिया के अधेड़ों का राष्ट्रीय चिन्ह है।

इंसान की फ़ितरत भी एक अजीब तमाशा है। बूढ़ा हो या बच्चा, नौजवान हो या अधेड़, आदमी हर मंज़िल पर अपनी उम्र के बारे में झूठ ही को तरजीह देता है। लड़के अपनी उम्र दो-चार साल ज़्यादा बताकर रौब जमाते हैं। यही लड़के जब माशाल्लाह जवान हो जाते हैं तो नौजवान कहलाना पसंद करते है। जो अधेड़ मर्द निस्बतन सत्यवादी हुए हैं, वे अपनी उम्र दस बरस कम बताते हैं। औरतें अलबत्ता हमेशा सच बोलती हैं---- वे एक दूसरे की उम्र हमेशा सही बताती हैं। हक़ीक़त यह है कि खून, मुश्क, इश्क़ और नाजायज़ दौलत की तरह उम्र भी छुपाए नहीं छुपती। बाइफ़ोकल, अल्सर, बुरी नज़र, गोल्फ़, नई नस्ल से विमुखता, भावुकता और परितृप्ति ----- ये मध्य-आयु की जानी पहचानी निशानियाँ हैं। इन सात विशेषताओं में से छह के आधार पर (यानी परितृप्ति को छोड़कर) जो हमारे अस्तित्व के कूज़े में बंद हो गई थीं, हमें निर्विरोध बाइफ़ोकल क्लब का सेक्रेटरी जनरल चुना गया।

क्लब की सदस्यता की बुनियादी शर्त यह है कि आदमी चालीस वर्ष का हो और अगर खुद को इससे भी ज़्यादा महसूस करता हो तो कहना ही क्या। हज़रत 'हफ़ीज़' जालंधरी के अल्फ़ाज़ में यह उम्र का वह अजब पड़ाव है कि आदमी को

हर बुरी बात, बुरी बात नज़र आती है!

यह वह सुरक्षित दौर है जब आदमी चाहे भी तो नेकी के अलावा और कुछ नहीं कर सकता। इंडोनेशिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति सुईकारनो का कथन है कि तीस वसंतों के बाद रबर का वृक्ष और हव्वा की बेटी किसी काम के नहीं रहते, जबकि मर्द किसी उम्र में सुंदरियों से सुरक्षित नहीं। ऐसे कथन का खंडन या समर्थन हमारे बस का काम नहीं। सुईकारनो तो पुरुष-पारखी व महिला-दंशित बुज़ुर्ग होने के अतिरिक्त राष्ट्रपति होने के सदमे भी उठाए हुए हैं। हम तो इनसे भी वंचित हैं। फिर यह कि छोटे मुँह को बुरी बात जँचती भी नहीं। रबर के बारे में हम अभी सिर्फ़ इतना पता लगा पाए हैं कि ग़लतियों को मिटाने के लिए ख़ासी उपयोगी चीज़ है। रही नारी,

सो अपने सतर्क व सीमित अवलोकन के आधार पर हम कोई सुन्दर झूठ नहीं बोल सकते। शेरनी को कछार में कुलेलैं करते देखना और बात है और सर्कस के पिंजरे में बैंड की धुन पर लोटें लगाते हुए देखना और बात।

अलबत्ता अपने समलैंगिकों के बारे में बहुत से बहुत कह सकते हैं तो यह कह सकते हैं कि वह सायं-सायं करता रेगिस्तान जो रातों-रात जीती-जीती ज़मीन को निगलता चला जाता है, वह महान बंजर व चटियल मैदान जो वृद्ध सीनों में दमा-दम फैलता रहता है, वह किसी भी क्षण प्रकट हो सकता है कि दिल आँख से पहले भी बूढ़े हो जाया करते हैं। इस वीरान जंगल में गूंज के सिवा कोई आवाज़, कोई पुकार सुनाई नहीं देती और कैक्टस[1] के सिवा कुछ नहीं उगता। मिर्ज़ा इस बंजर, बेरस, बेरंग, बेउमंग धरती को No Woman's Land कहते हैं। जिसकी मिली-जुली सरहदें सिर्फ़ बाइफ़ोकल से देखी जा सकती हैं। ये बढ़ते हुए सायों और भीनी-भीनी यादों की सर-ज़मीन है जिसके वासी प्यास को तरस्ते हैं और बे-प्यास पीते हैं कि उन्हें

इसका भी मज़ा याद है , उसका भी मज़ा याद

एक दिन हमें ऊपर के शीशे से पृष्ठ-नंबर और निचले से फ़ुटनोट पढ़ता देखकर मिर्ज़ा मुँह ऊपर नीचे करके हमारी नक़ल उतारने लगे। उपस्थित जनों को हमारे हाल पर खूब हँसा चुके, तो हमने जलकर कहा, "अच्छा, हम तो सिर्फ़ नेकचलनी की वजह से वक़्त से पहले अंधे हो गए, लेकिन तुम किस खुशी में यह बोतल के पेंदे जितनी मोटी ऐनक चढ़ाऐ फिरते हो?"

फ़रमाया, "मगर यह बाइफ़ोकल नहीं है।"

हमने कहा, "तो क्या हुआ? जिस ऐनक से तुम मुँह अंधेरे *तफ़सीर-ए-माजिदी*[2] की हिल-हिलकर तिलावत (पाठ) करते हो, उसी से रात ढले आँखें फ़ाड़-फ़ाड़कर गुप्तांग-प्रदर्शी कैबरे देखते हो!"

फ़र्माया, "बरख़ुरदार! इसीलिए हमारा दिल आज तक महफ़ूज़ है!"

और यह बड़ी बात है। इसलिए कि मिर्ज़ा (जो बीस साल से खुद को मरहूम (स्वर्गीय) कहते और लिखते आए हैं) अब तक छोटे-बड़े मिलाकर सैंतीस प्रेम कर चुके हैं। हर प्रेमिका की याद को 'लेबल' लगाकर इस तरह रख छोड़ा है जैसे फ़ुटपाथ पर भीड़ लगाके दवाएँ बेचने वाले विषैले साँपों और बिच्छुओं को स्प्रिट की बोतलों में लिये फिरते हैं। इन प्रेम-प्रसंगों का अंजाम वही हुआ जो होना चाहिए, यानी नाकामी। और यह अल्लाह ने बड़ी मेहरबानी की, क्योंकि खुदा-न-ख़्वास्ता वे कामयाब हो जाते तो आज मिर्ज़ा के फ़्लैट में सैंतीस अदद दुल्हनें बैठी बल्कि खड़ी होतीं। लेकिन एक के बाद एक नाकामी से मिर्ज़ा की मूर्खता का स्तम्भ तनिक भी कंपित न हुआ। दो चार टांगें टूटने से कनखजूरा कहीं लंगड़ा होता है? बत्तीसवीं असफलता का अलबत्ता दिल ने बड़ा असर लिया। और उन्होंने फ़ैसला किया कि रावी के रेलवे पुल से छलाँग लगाकर खुदकुशी कर लें। लेकिन

---

[1] *Cactus (नागफनी) का फूल जितना बड़ा और खुश-रंग होता है, उससे ज़्यादा नाज़ुक। साल भर में एक भभूका फूल खिलता है जो बस एक रात अपनी बहार दिखाकर मुरझा जाता है। दो-दो सौ साल पुराने ऐसे कैक्टस भी देखे गए हैं, जिनमें दस बरस बाद कहीं एक फूल आता है तो रात का सीना दहक उठता है। लेकिन यह भी पिछले पहर तक कुम्हलाने लगता है:*
आ जाओ जो तुमको आना हो, ऐसे में अभी शादाब हैं हम (ले.)

[2] *तफ़सीर-ए-माजिदी: अब्दुल माजिद दरियाबादी द्वारा लिखित उर्दू टीका जिसमें क़ुरान के बहुत से अनुवादों से फ़ायदा उठाया गया है। इसकी ख़ास बात यह है कि इसमें ईसाई मिशनरियों और नास्तिकों द्वारा इस्लाम पर उठाये गए सवालों के जवाब बाइबिल और पाश्चात्य विद्वानों की किताबों से दिए गए है। (अनु.)*

इसमें यह आशंका थी कि कहीं पहले ही ट्रेन से कट न जाएँ। लगातार तीन-चार रात दूसरा सिनेमा शो भी इस सोचे समझे मंसूबे के तहत देखने गए कि वापसी में माल पर कोई उन्हें बेदर्दी से क़त्ल कर दे। लेकिन किसी गुंडे ने जागती जगमगाती सड़क पर उनके गंदे खून से अपने हाथ नहीं रंगे। सितम यह कि किसी ने वह जेब तक न काटी, जिसमें वे हिफ़ाज़ती पिस्तौल भी छुपाकर ले जाते थे। सब तरफ़ से मायूस होकर उन्होंने हज़रत दाता गंज बख़्श की दरगाह का रुख़ किया कि इसी का मीनार सब से बुलंद और क़रीब पड़ता था। मगर वहाँ देखा कि उर्स हो रहा है। आदमियों पर आदमी टूटे पड़ते हैं। मौसम भी कुछ मुनासिब सा है। इसलिए फ़िलहाल इरादा स्थगित कर दिया और बानो बाज़ार से चाट खाकर वापस आ गए।

ज़रा संजोग तो देखिए कि दो दिन बाद यह मीनार ही गिर गया। मिर्ज़ा ने अख़बार में ख़बर देखी तो सिर पकड़कर बैठ गए। बड़ी हसरत से कहने लगे, "साहब! अजीब संजोग है कि मैं उस वक़्त मीनार पर नहीं था।" बरसों इसका दुख रहा।

अपनी-अपनी सोच और अपनी-अपनी हिम्मत की बात है। एक हम हैं कि जो रातें गुनाहों से तौबा व इस्तग़फ़ार में गुज़रनी चाहिएँ, वो अब उलटी उनकी हसरत में तरसते फड़कते बीत रही हैं। नयन कंवल खिले भी तो पिछले पहर की चांदनी में। और एक मिर्ज़ा हैं कि नज़र हमेशा नीची रखते हैं, लेकिन शहर की सुंदरियों में से आज भी कोई मेहरबानी करे तो उससे इंकार नहीं। उन्हीं का कथन है कि आदमी वासना में कमज़ोरी या काहिली दिखाए तो निरी आशक़ी रह जाती है। हमने देखा कि हालात कैसे ही प्रतिकूल हों, बल्कि अगर बिल्कुल कंगाली है, लेकिन तबीयत हाज़िर है तो मिर्ज़ा संगलाख़ चट्टानों से जू-ए-शीर[1] ही नहीं, खुद शीरीं को बरामद करने का हुनर रखते हैं। बल्कि एक आध दफ़ा तो यह चोट भी हुई कि *कोह-कुंदन, कोहकन बर-आवरदन!*[2] (खोदा पहाड़ निकला फ़रहाद)। 1958 की घटना है। हमारे आग्रह पर एक बेबी-शो (दुधमुंहे बच्चों की नुमाइश) में जज बनना मंज़ूर किया और वहाँ एक माता पर आशिक़ हो गए। पहला पुरस्कार उसी को दिया।

4 अगस्त 66. दोपहर का समय। दिन पहले प्यार की मानिंद गरम। बदन कोरी सुराही की तरह रिस रहा था। हम गर्द उड़ाते, ख़ाक फाँकते मिर्ज़ा को इकतालिसवें जन्म दिन की बधाई देने गुलबर्ग पहुँचे। मिर्ज़ा कराची से नए-नए लाहौर आए थे और आंचलिक "कलर स्कीम" के इतने ज़्यादा ख़िलाफ़ थे कि सफ़ेदे के तनों को नीला पेंट करवा दिया था। उनके बैरे ने बरामदे से ही हाँक लगाई कि "साहिब जी! वह जो मोटर साईकिल रिश्का के आगे एक चीज़ लगी होती है, सिरफ उस पर बैठके एक साहब मिलने आए हैं!" लेकिन मिर्ज़ा ने न यह ऐलान सुना और न हमारी मोटर साइकिल की फ़ट-फ़ट, इसलिए कि उस समय वे जन्म दिन के मुरग़न लंच के बाद आराम कुर्सी पर आँखें बंद किए "केस नंबर 29" को ध्यान की गोद में लिए बैठे थे। हमने कन्धा झिझोंड़कर उचित हस्तक्षेप करते हुए कहा,

---

[1] *जू-ए-शीरः खुसरो बादशाह की बीवी शीरीं पर एक किसान फ़रहाद आशिक़ हो गया था। खुसरो ने शर्त रखी कि अगर फ़रहाद पहाड़ काटकर जू-ए-शीर (दूध की नहर) निकाल दे तो उसको शीरीं दे दी जायेगी। फ़रहाद ने नहर तो निकाली लेकिन उसे शीरीं नहीं मिली और उसने जिस कुदाल से पहाड़ काटा था उसी से आत्महत्या कर ली। (अनु)*

[2] *असल फ़ारसी मुहावरे "कोह कुंदन काह बर आवरदन" की पैरोडी है जिसका अर्थ है खोदा पहाड़ निकली घास। इसका समानार्थी उर्दू मुहावरा है "खोदा पहाड़ निकली चुहिया"। (अनु.)*

"मिर्ज़ा! अजीब बात है। हर जन्म दिन हमारी ऐनक के नंबर और बेदिली में इज़ाफ़ा कर जाता है और हमें हर चीज़ में एक ताज़ा दरार पड़ी नज़र आती है। मगर तुम हो कि आज भी सितारों पर कमंद डालने का हौसला रखते हो।"

बोले, "शुक्रिया! नित्शे का आशीर्वाद है।"

हमने कहा, "मगर हमारा मतलब फ़िलमी सितारों से था!"

फ़ौरन शुक्रिया वापस लेते हुए फ़रमाया "…..Et Tu Brutus?"

दो चार बरस की बात नहीं, हमने मिर्ज़ा का वह ज़माना भी देखा है जब

घंघोर घटा तुली ख़ड़ी थी
पर बूंद अभी नहीं पड़ी थी

अभी वे इस लायक़ भी नहीं थे कि अपने टुइयाँ तोते का ख़र्च बर्दाश्त कर सकें, लेकिन बेसब्र दिल का यह रंग था कि अलजेब्रा के घंटे में बड़े ध्यान मग्न होकर अपने हाथ की रेखाओं का अध्ययन करते रहते। उम्र की लकीर उनकी निजी ज़रूरत से कुछ लंबी ही थी। मगर शादी की सिर्फ़ एक ही लाइन थी, जिसे रगड़-रगड़ के देखते थे कि शायद पिछले चौबीस घंटों में कोई शाखा फूटी हो। लम्बे अरसे तक असंख्य ख़ानदानी बुज़ुर्ग उन की जवानी पर साया डाले रहे। खुदा-खुदा करके उनके घने-घने साए सिर से उठे तो पता चला कि दुनिया इतनी बुरी जगह नहीं! लेकिन एक मुद्दत तक माली हालात ने आवारगी की अनुमति न दी और जी मार-मारके रह गए! वर्ना उनका बस चलता तो बची-खुची आयु की पूँजी को इस तरह ठिकाने लगा देते, जैसे दिल्ली के बादशाह लदे-फंदे बाग़ लौंडियों से लुटवा दिया करते थे। मिर्ज़ा 1948 तक मिर्ज़ायाना बसर करते रहे। यानी मिज़ाज रईसाना और आमदनी फ़क़ीराना रखते थे। शादी की हिम्मत नहीं पड़ती थी। खुदा भला करे प्रोफ़ेसर क़ाज़ी अब्दुल क़ुद्दूस का, जिन्होंने एक दिन अपनी हथेली पर क़लम से गुणा-भाग करके मिर्ज़ा को संख्याओं से क़ायल कर दिया कि जितनी रक़म वे सिगरेटों पर फूँक चुके हैं, उससे सुघड़ शौहर चार दफ़ा मेहर बेबाक कर सकता था। आख़िर हम सबने लग लिपटकर उनकी शादी करवा दी। दो-चार दिन तो मेहर-ए-मुआज्जिल की दहशत से सहमे-सहमे फिरे और जैसे-तैसे अपने आपको सँभाले रखा, लेकिन हनीमून का हफ़्ता ख़त्म होने से पहले इस हद तक नॉर्मल हो गए कि बे-तकल्लुफ़ दोस्तों को छोड़िये, खुद नई नवेली दुल्हन की ज़बान पर भी यूँही कोई ज़नाना नाम आ गया तो मिर्ज़ा तड़पकर साकार सवालनामा बन गए:

कहाँ है? किस तरह की है? किधर है?

उन्हीं के एक साले का कहना है कि ठीक आरसी-मुसहफ़[1] के समय भी दर्पण में अपनी दुल्हन का मुँह देखने के बजाए मिर्ज़ा की दृष्टि उसकी एक सहेली के चेहरे पर जमी हुई थीं। दुनिया गवाह है (दुनिया से यहाँ हमारा तात्पर्य वही है, जो मिर्ज़ा का, यानी स्त्रियों का संसार) कि मिर्ज़ा ने जिस पे डाली, बुरी नज़र डाली, सिवाए अपनी बीवी के। महोदय का अपना बयान है कि बंदा दुधमुँही उम्र में भी बीस साल से ज़्यादा उम्र की आया की गोद में नहीं जाता था। कभी-कभी अपनी लालच भरी आँखों से खुद पनाह माँगने लगते हैं। ज़ुकाम के छह-

[1] *आरसी-मुसहफ़: एक रस्म जिसमें दूल्हा-दुल्हन शादी के दिन आईने में एक दूसरे का चेहरा देखते हैं। उनके बीच में क़ुरान भी रखा जाता है। (अनु.)*

माही हमले के दौरान हमारा हाथ अपने हाथ में लेकर कई बार वसीयत कर चुके हैं कि "मैं मरने लगूँ, तो अल्लाह के वास्ते एक घंटा पहले मेरी ऐनक उतार देना, वर्ना मेरा दम नहीं निकलेगा।"

हमने एक दफ़ा पूछा, "मिर्ज़ा! हमें यह कैसे पता चलेगा कि तुम्हारे दुश्मनों के मरने में अब एक घंटा रह गया है?"

बोले, "जब मैं नर्स से ड्यूटी के बाद का फ़ोन नंबर पूछने के बजाए अपना टेम्प्रेचर पूछने लगूँ, तो समझ लेना कि तुम्हारे यारे-जानी का समय पूरा हो गया!"

मगर मिर्ज़ा की बातें ही बातें हैं। वर्ना कौन नहीं जानता कि उनके सीने में जो बाँका-सजीला डॉन-वान धूमें मचाया करता था, वह अब पिछले पहर दोहरा हो-होकर खाँसने लगा है। अब वे आतिश-दान के सामने कंबल का घूँघट निकाले, कंपकंपाती आवाज़ में अपने मुलाक़ातियों को उस रंगीन ज़माने की दास्तानें सुनाते हैं जब वे सुबह-तड़के FRIDGE के पानी से नहाया करते थे। वे तो यहाँ तक शेख़ी मारते हैं कि आजकल के मुक़ाबले में उस ज़माने की तवायफ़ें कहीं ज़्यादा बदचलन हुआ करती थीं।

मिर्ज़ा का ज़िक्र, और फिर बयाँ अपना! समझ में नहीं आता किस दिल से ख़त्म करें। लेकिन क्लब के मुख्य-संरक्षक फ़हीमुल्ला ख़ान का परिचय रहा जाता है। यह उन्हीं के दम-क़दम बल्कि दाम-व-दिरम का कमाल है जिसने चाकसू खुर्द-व-कलाँ के तमाम अधेड़ों को बिना किसी मक़सद के एक प्लेटफॉर्म पर जमा कर दिया। ख़ान साहब हर नस्ल की अमेरिकी कार और घोड़ों के आशिक़ हैं। उत्तरोल्लिखित की रफ़्तार-व-किरदार से इतने प्रभावित होते हैं कि किसी सुन्दर महिला की अति प्रशंसा करनी हो तो उसकी मिसाल घोड़ी से देते है! औरों पर बहुत हुआ तो रोज़ी का एक दरवाज़ा खुल जाता है! उन पर पूरी बारह-दरी खुली हुई है। और वह भी पहले ही दिन से वर्ना होने को तो ख़ुशहाली हमें भी नसीब हुई, मगर बक़ौल-ए-शायर

अब मेरे पास तुम आई हो तो क्या आई हो

हम जब चौथी कक्षा में पहुँचे तो उनके बड़े साहबज़ादे मैट्रिक में दूसरी दफ़ा फ़ेल हो चुके थे। लेकिन बुढ़ापे का अहसास तो छोड़िए, जबसे हमने बाइफ़ोकल लगाया है, हमें अपनी नवीनतम यानी वर्तमान माह की महबूबा से "अंकल" कहलवाकर हसीनों की निगाह में हमारी इज़्ज़त और उम्र बढ़ाते हैं। जिस मुक़ाम पर हम अब लाहौल[1] पढ़ने लग गए हैं, वहाँ उनकी ज़बान अभी तक सुबहान-अल्लाह! सुबहान-अल्लाह! कहते सूखी जाती है। हमने उनकी जवानी की गर्मियाँ नहीं देखीं। हाँ, बड़े-बूढ़ों से सुना है कि जब महोदय की जवानी मोहल्ले की कुँआरी कन्याओं के माताओं-पिताओं पर भारी होने लगी तो उन्होंने हमसायों के दरो-दीवार पे हसरत से नज़र करके चाकसू खुर्द को अलविदा कहा और मुम्बई का रुख़ किया, जहाँ ऊन की आढ़त के साथ-साथ 1947 तक कई ऊँचे घरानों के उदारवाद का लाभ उठाते रहे। मिर्ज़ा का कहना है कि उनका दिल शुरू ही से बहुत बड़ा था। उनका

---

[1] *लाहौल व ला क़ूवत इल्ला बिल्लाहः शाब्दिक अर्थ है :"ख़ुदा के सिवाय दुनिया में कोई दूसरा सामर्थ्यवान और शक्तिमान नहीं है।" आम बोलचाल में 'लाहौल व ला क़ूवत' बोलते हैं। प्रचलित अर्थों में यह ऐसे अवसर पर बोलते हैं जब कोई बात बिगड़ जाए, बुरी, घटिया या बेशर्मी की बात दिख जाए या सुनाई पड़ जाए, वग़ैरह। जैसे 'लाहौल व ला क़ूवत बेहद घटिया फ़िल्म है!' या लाहौल व ला क़ूवत बेहद बुरा शेर है। इसके विपरीत "सुबहान अल्लाह" प्रशंसा के तौर पर बोलते हैं यानी वाह वाह !, सुबहान अल्लाह क्या बढ़िया बात कही! (अनु.)*

मतलब है कि उसमें एक साथ कई महिलायें समा सकती थीं। ख़ूब-से-ख़ूबतर की जुस्तजू उन्हें कई बार क़ाज़ी के सामने भी ले गई और हर निकाह पे फिर-फिरके जवानी आई कि यह

असा है पीर को और सैफ़ है जवाँ के लिए[1]

उनके ठहाके में जो गूंज और गमक है, वह सिंध क्लब के अंग्रेज़ों की सोहबत और वहीं की व्हिस्की से खींची हुई है। खुश-बाश, खुश-लिबास, शाह-ख़र्च। नाजायज़ आमदनी को उन्होंने हमेशा नाजायज़ मद में ख़र्च किया। तबीयत धूप घड़ी की मानिंद जो सिर्फ़ रोशन क्षणों का शुमार रखती है। महाकाय, चौड़ी छाती, खड़ी कमर, कंधे जैसे ख़रबूज़े की फाँक, खुलती बरसती जवानी। और आँखें? इधर दो तीन साल से ऐनक लगाने लगे हैं, मगर धूप की। वह भी उस समय जब सैंड्ज़पिट के लिबास-दुश्मन तट पर सूर्य-स्नान के दृश्य से उनकी गदली-गदली आँखों में एक हज़ार "स्कैंडल पॉवर" की चमक पैदा हो जाती है और वे घंटों किसी को नज़रों से स्नान कराते रहते हैं। निकट की नज़र ऐसी कि अब तक अपनी जवान जहान पोतियों के नाम के पत्र खोलकर बिना ऐनक के पढ़ लेते हैं। रही दूर की नज़र, सो जितनी दूर नॉर्मल आदमी की नज़र जा सकती है, उतनी दूर बुरी नज़र से देखते हैं।

ख़ाकम बदहन

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क

[1] *बूढ़े (पीर) के लिए असा (लाठी) है और जवान के लिए सैफ़ (तलवार)। (अनु.)*